

## आत्मबोध

आज की शाम क्या हम आत्मबोध के प्रश्न पर बातचीत कर सकते हैं? यह काफी जटिल समस्या है, और जीवन की अन्य समस्याओं की तरह इस का भी कोई निर्णायक हल नहीं। हममें से अधिकांश लोग दूसरों से सुनी हुई या मनोवैज्ञानिक और धार्मिक पुस्तकों में पढ़ी हुई आत्मबोध की व्याख्याएं बड़ी आसानी से मान लेते हैं। और यदि हम उसी स्तर पर अटके रहे तो बड़े अफ़सोस की बात होगी। इसके बजाय, आज की शाम हम यह पता करें कि क्या हम अपनी चेतना की गहराइयों में प्रवेश कर सकते हैं - जिसका अर्थ है अपनी स्वयं की विचारणा तथा भावना की समस्त प्रक्रिया, अपनी आशाओं और अपने भयों का प्रत्यक्ष अनुभव करना।

और आगे बढ़ने से पहले आपके लिए यह जरूरी है कि इस समय कही जा रही बात को आप जिस ढंग से सुन रहे हैं उसका आपको अहसास हो। आत्मबोध के इस समग्र प्रश्न की छानबीन करने की मैं कोशिश करूंगा। पर अगर आप व्याख्याएं ही सुनते रहे और केवल शब्दों से ही संतुष्ट हो गये तो मैं समझता हूं वह बिलकुल ही अर्थहीन बात होगी। यह तो कुछ ऐसी बात होगी कि कोई भूखा व्यक्ति फसल के बारे में या खाना बनाने के बारे में कई सारे शब्दों तथा व्याख्याओं को सुन रहा हो, इस उम्मीद पर कि इन बातों से उसका पेट भर जाएगा। वस्तुतः हममें से अधिकांश लोग उसी स्थिति में हैं। हम गहरे अर्थ में भूखे होते ही नहीं। अपने मन की समस्त प्रक्रिया को, अपने विचारों तथा भावनाओं की समग्रता को समझने की वास्तविक उत्कंठा हममें नहीं है। इसी कारण व्याख्याओं से हमारा समाधान हो जाता है, और अपनी अनेक समस्याओं का सामना हम व्याख्या के स्तर पर ही किया करते हैं; और मेरे विचार में केवल व्याख्या कर देने वाला व्यक्ति और व्याख्याओं से संतुष्ट हो जाने वाला व्यक्ति दोनों बहुत ही सतही स्तर पर जी रहे होते हैं।

क्या व्याख्याओं से किसी भी गंभीर समस्या का हल निकल सकता है? राष्ट्रवाद के झूठेपन का, उसके भ्रष्ट करने वाले विनाश तथा पतनकारी परिणामों की मैं आपके सामने व्याख्या कर दूंगा; ऐसी व्याख्याओं के औचित्य को चाहे आप समझ भी लें; तो भी जाहिर है कि इतने भर से आप राष्ट्रवाद से मुक्त नहीं हो जाएंगे। राष्ट्रवादी होने का भाव आपको सुख देता है; किसी खास समूह से बंधा होना आपको अच्छा लगता है, वह आपके लिए भावनात्मक तथा आर्थिक दोनों दृष्टियों से लाभदायक है। अतः बोध व्याख्याओं से कभी नहीं हो सकता, उससे कभी कोई धधकती समस्या हल नहीं हो सकती। कोई दंत चिकित्सक आपको यह तो बता देगा कि बहुत ज्यादा चीनी खाना आपके दांतों के लिए बहुत हानिकारक है, और अपने इस कथन को साबित करने के लिए बहुत सारे सबूत भी पेश कर देगा; लेकिन चीनी आप पसंद करते हैं और उसका खूब सेवन जारी रखते हैं। अतः व्याख्या एक बात है और प्रत्यक्ष कर्म बिलकुल अलग बात। या तो आप केवल शब्दों को, व्याख्याओं को सुन-समझ रहे हैं या फिर सुनने की प्रक्रिया में ही प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं - केवल शब्दों पर संतुष्ट होने की अपेक्षा साक्षात् अनुभव बहुत अधिक अर्थपूर्ण, औचित्यपूर्ण व जीवंत होता है।

तो फिर, व्याख्याएं कहां खत्म होती हैं, और वास्तविक प्रत्यक्ष बोध या अनुभूति कहां से शुरू होती है इस बारे में हमें बहुत स्पष्ट होना होगा। व्याख्याओं के सहारे आप बस इतनी ही दूर जा सकते हैं, और बाकी यात्रा आपको अकेले अपने से ही करनी है। हममें से अधिकांश लोग इस एकाकी यात्रा के लिए तैयार नहीं होते, क्योंकि हम आलसी हैं, और बड़ी आसानी से, हम जाहिर बात से संतुष्ट हो जाते हैं - जो कि हमेशा व्याख्या ही है। लेकिन प्रत्यक्ष कर्म और अनुभव की प्राणवत्ता व्याख्या से परे होती है - वह व्याख्या चाहे जितनी प्रकट या सूक्ष्म हो।

इसीलिए केवल शाब्दिक स्तर पर न रुकते हुए, हम जिन चीजों की बातें कर रहे हैं उन चीजों का सीधा अनुभव करना बहुत जरूरी है। आत्मबोध की इस समूची समस्या पर यदि ध्यान दें और यह पता लगायें कि हमारे चिंतन का, हमारे कर्मों का, हमारे अस्तित्व ही का वास्तविक आधार क्या है तो यह बड़ा दिलचस्प होगा। अगर हम इसका धीरे-धीरे, बारीक तफसील के साथ, सीधा अनुभव करें तो मुझे लगता है हम बहुत आगे बढ़ सकेंगे। आखिरकार, दूर जाने के लिए हमें पास से ही शुरुआत करनी होती है, और जो पास है, वह है "मैं", स्व, मन की यह समस्त प्रक्रिया। आप भले ही एक वैज्ञानिक, इंजीनियर और अंतरिक्ष-यात्रा की तकनीक में माहिर होंगे, पर सच्ची यात्रा तो भीतर की ओर होती है, और वह चांद की यांत्रिक यात्रा के बजाय कहीं अधिक मुश्किल, गहरी तथा अर्थपूर्ण होती है। अपरिमेय तो स्वयं के भीतर ही है।

अतः, शाब्दिक या बौद्धिक व्याख्या कहां समाप्त होती है और साक्षात् बोध या अनुभूति का आरंभ कहां होता है यह समझना बहुत जरूरी है। व्याख्या वास्तविकता तक नहीं ले जा सकती। व्याख्या कितनी ही संतोषजनक क्यों न हो, वह आपको प्रत्यक्ष बोध से, प्रत्यक्ष अनुभूति से जन्म लेने वाली समझ नहीं दे सकती।

जब यह बात स्पष्ट रूप से आप समझ जाएंगे, तब आप व्याख्याओं से संतुष्ट नहीं होंगे, आप कभी उद्धरण नहीं देंगे, आप कभी गीता या बाइबल के प्रामाण्य का आश्रय नहीं लेंगे। केवल बौद्धिक मनोविनोद के तौर पर चाहे आप पढ़ लें, पर किताबों में सिखाई गई बात की अपेक्षा साक्षात् अनुभव असीम रूप से विस्तृत होता है। जीवित कुत्ता मरे हुए शेर से बेहतर होता है। किताबों के सभी नायक मृत सिंह हैं, और उन्हें उदाहरण बना लेना अनर्थकारी होता है। प्रमाण माने जाने वाले विभिन्न अधिकारी पुरुषों की व्याख्याओं की अपेक्षा आप का साक्षात् अनुभव, साक्षात् बोध कहीं अधिक प्रामाणिक होता है।

इस बात को ध्यान में रखते हुए आत्मबोध की प्रक्रिया का अन्वेषण करें। किसी दिशा दिखाने वाले संकेतक की तरह मैं केवल दिशा संकेत कर रहा हूं। संकेतक का कोई महत्त्व नहीं है। जो व्यक्ति यात्रा कर रहा है, वह महत्त्वपूर्ण है। यह वक्ता गुरु नहीं है, अधिकारी पुरुष नहीं है, पथ-प्रदर्शक नहीं है। यह आंतरिक यात्रा हर किसी को अकेले ही करनी होती है - बाहर की चीजों से हटा देने वाली प्रतिक्रिया के रूप में नहीं, बल्कि समझने के प्रयास की अपरिहार्य प्रक्रिया के तौर पर। बाह्य को आंतरिक की ओर जाना ही होगा, अर्थात् अस्तित्व की समग्र प्रक्रिया की समझ की ओर, जिसमें बाहरी और भीतरी का कोई विभाजन नहीं है।

अस्तित्व की समग्र प्रक्रिया को समझने के लिए चाहे वह बाहरी हो या आंतरिक आपको अपने चिंतन के तौर-तरीकों को समझना होगा; आप क्यों सोचते हैं, क्या सोचते हैं इस बात का पता लगाना होगा, यानी अपने चिंतन के स्रोत को मालूम करना होगा। उस स्रोत की खोज के अभाव में अन्वेषण के लिए, कर्म के लिए आपके पास कोई वास्तविक आधार ही नहीं है। आपका वर्तमान कर्म आदत पर, दिनचर्या पर, अनुशासन पर, आपकी विशिष्ट संस्कारबद्धता पर आधारित है। दिनचर्या की, अनुशासन की, प्रतिबद्धता की अभ्यस्त क्रिया से बिल्कुल अलग एक कर्म होता है, पर ऐसा कर्म केवल आत्मबोध से ही संभव है, और इसीलिए अपने आपको समझना इतना जरूरी हो जाता है।

अब प्रश्न है, बोध से, जानने से हमारा क्या तात्पर्य है? “मैं जानता हूँ” ऐसा जब मैं कहता हूँ, तब उसका अभिप्राय क्या होता है? आपको मैं इसलिए जानता हूँ कि आपसे मेरा परिचय करा दिया गया है। एक बार आपसे मिलते ही आपका एक चित्र मेरे मनःपटल पर अंकित हो जाता है, और जब मैं आपसे फिर से मिलता हूँ तो मैं आपको पहचान लेता हूँ। अर्थात् जानना पहचानने की प्रक्रिया है; और यह जानना पिछले अनुभवों के आधार पर होता है। इसका मतलब है जानना संचय करते जाना और जोड़ते जाना है। “मुझे अपने आपको जानना चाहिए” ऐसा जब हम कहते हैं तब हम यह मानकर चलते हैं कि हमारा स्व कोई स्थिर, अचल, अटल वस्तु है, और इस कारण उसे पहचाना जा सकता है। या फिर स्व क्या है - यह हमें दूसरों द्वारा बताया गया है और इस बारे में कुछ निष्कर्षों तक हम पहुंच चुके हैं, और इस पृष्ठभूमि से हम स्वयं को पहचानने की कोशिश करते हैं। अतः, जानना हमेशा पहचानने की प्रक्रिया होता है; पहचानने के अभाव में कोई ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान, पहचान के जरिये जुड़ता चला जाता है। बात कुछ पेचीदा लग सकती है, पर वास्तव में है बड़ी सरल।

जानना एक बात है, और समझना दूसरी बात। जानने का अभिप्राय है संचय करना; वह अतीत में हुए अनुभव के आधार पर पहचान की प्रक्रिया है। हर नया अनुभव पूर्वज्ञान द्वारा संस्कारित होता है और उस में जुड़ता चला जाता है। अतः, जानना जोड़ने, जमा करने की प्रक्रिया है, जबकि समझ के साथ ऐसा बिल्कुल नहीं है। “मैं आपको जानता हूँ” ऐसा जब आप कहते हैं, तब आपका वह जानना केवल किसी पिछले जड़ अनुभव की पृष्ठभूमि से ही होता है। मुझे आप मेरे चेहरे-मोहरे से, मेरे नाम से, मैंने आपसे जो कुछ कहा है उससे या मेरे बारे में दूसरों ने आपसे जो कहा है उससे, और ऐसी ही अन्य बातों से जानते हैं। यह सारी जानकारी गुजरे हुए कल की है। उसके बाद मेरा कई अनुभवों से कई प्रकार के प्रभावों से गुजरना हुआ है। और हो सकता है मैं काफी कुछ बदल गया होऊँ पर आप कल की उस स्मृति को ही लिए बैठे हैं, और उस पृष्ठभूमि से आज भी मेरा मूल्यांकन कर रहे हैं। इसलिए आप कहते तो हैं, “मैं आपको जानता हूँ”, जबकि वास्तव में आप मुझे कतई नहीं जानते; लेकिन “मैं आपको जानता हूँ” ऐसा कहना आपको बड़ा सुविधाजनक लगता है, और यह सिलसिला चलता रहता है।

शायद अपनी बात मैं स्पष्ट नहीं कर पा रहा हूँ। यह सीधी-सी बात जब तक आपकी समझ में नहीं आ जाती, तब तक आत्मबोध की समग्र गति का अभिप्राय समझना आपके लिए बहुत मुश्किल होगा।

“मैं जानता हूँ” ऐसा जब मन कहता है, तब वह केवल कल या अतीत में किसी अन्य समय घटी बात को ही जानता है। उस ज्ञान के साथ वह वर्तमान के सामने प्रस्तुत होता है, पर वर्तमान तो क्षण प्रति क्षण बदलता रहता है। अतः “मैं जानता हूँ” ऐसा मन का कहना कभी भी सही नहीं हो सकता; और मनोवैज्ञानिक तौर पर इस बात को समझना बहुत ही जरूरी है। “मैं जानता हूँ” ऐसा कहने वाला व्यक्ति जानता नहीं है। आप ऐसा कभी नहीं कह सकते कि “मैंने सत्य को पा लिया है” ऐसा कोई नहीं कह सकता, क्योंकि सत्य जीवंत और गतिशील होता है, वह कभी जड़ नहीं होता, एक जैसा नहीं होता; और यही सत्य की सुंदरता है, उसकी भव्यता है।

‘मैं’ या ‘स्व’ कहलाने वाली इस चीज को समझना हो तो “मैं जानता हूँ” ऐसा कहे बगैर ही, और बिना किसी ‘जानकार’ को माने उस समझ तक पहुंचना होगा। सारा प्रामाण्य निर्जीव होता है, और उससे सृजनशील खोज का उद्भव नहीं होता। सत्ता आपको मार्गदर्शन करा देगी, अपने हिसाब से ढाल लेगी, यह भी बता देगी कि क्या करना है, क्या नहीं करना है, लेकिन यह सब जानकारी के क्षेत्र में ही होगा, और ज्ञात का बोझ ढोते हुए आप उसका बोध नहीं कर सकते, जो जीवंत है, प्राणवान है, गतिमान है। अतः, इस सत्य को समझने वाला तथा अपने स्वयं की जांच-पड़ताल करने की चाह रखने वाला मन “मैं जानता हूँ” ऐसा कभी नहीं कहेगा; इसलिए, स्वयं निरंतर गतिमान होने के कारण जो नित्य परिवर्तनशील है उसका अवलोकन करने में समर्थ होगा। यही आत्मबोध का आरंभ है। पता नहीं मैं अपनी बात को स्पष्ट कर पा रहा हूँ या नहीं।

देखिए सर, जिस स्व को हम जानते हैं वह है तो एक सीमित वस्तु, परंतु वह जीवंत और गतिमान भी है, और एक संस्कारों में जकड़ा, परंपरा से बंधा मन है। “एक उच्चतर स्व होता है और दूसरा निम्नतर स्व” यह सब कहने वाला मन संभवतः स्व को, अपने आप को, नहीं समझ पाएगा। ‘स्व’ शब्द का प्रयोग मैं किसी विशेष आध्यात्मिक अभिप्राय से नहीं कर रहा हूँ; मेरा अभिप्राय दैनिक जीवन में क्रियाशील उस स्व से है जो सोचता है, अनुभव करता है, आविष्कार करता है, आशा करता है, इच्छा करता है, और द्वंद्व में फंसा हुआ है; वह स्व जो पूर्वाग्रहग्रस्त है, जो अटकलबाजियां करता है, आंकता है, तलाश में रहता है।

क्या यह सब बहुत मुश्किल लग रहा है? उम्मीद है कि ऐसा नहीं है। अगर ऐसा है, तो इसे रहने दीजिए; शायद मैं इसे किसी अन्य ढंग से बता सकूँ।

हम स्व को उस ‘मैं’ के अर्थ में जानते हैं जिसके पास संपत्ति है, जिसमें गुण हैं, जिसके कुछ रिश्ते हैं, या जो किसी विशेष संस्कृति द्वारा, परिवेश के विभिन्न प्रभावों द्वारा, उन पुस्तकों द्वारा जो यह पढ़ता है, दर्शनों के माध्यम से जिनका वह अध्ययन करता है, उन तकनीकों से जिन्हें वह सीखता है - इन सबके द्वारा वह संस्कारित है। वह मन जो ईर्ष्याग्रस्त है, जिसमें राग-द्वेष है, आशा और भय है, यही सब स्व का यथार्थ है। यह स्व केवल सतही स्तर पर ही नहीं है, वह दैनिक क्रियाओं

में जुटा चेतन मन ही नहीं, बल्कि कहीं अधिक गहरे स्तर पर कार्यरत अचेतन मन भी है। वह पूरी की पूरी चेतना ही स्व है, अपना आप है।

अब, हमारा सारा चिंतन स्व नाम के उस केंद्र से ही शुरू होता है। जहां केंद्र है, वहां परिधि भी है, एक बाहरी सरहद। वह चेतन व अचेतन विचारकर्ता केंद्र है और वह जिसे पाना चाहता है, वह जो जानता है, उसकी परिधि है, अर्थात् ज्ञात के दायरे में ही है। तो विचारक और विचार है, अनुभवकर्ता और अनुभव है, द्रष्टा और दृश्य है। मानिए या नकारिए मत, बस समझ लीजिए, खाली शाब्दिक रूप से नहीं, बल्कि इस स्पष्टीकरण के जरिये वास्तव में देखिए कि आपका अपना मन किस तरह से काम कर रहा है।

मैं अपने आपको जानना चाहता हूं। क्यों? क्योंकि अपने को जाने बिना कोई आधार ही नहीं बनता जिस पर कुछ निर्मित हो सके। मुझे पता नहीं कि मेरे विचार प्रामाणिक हैं या नहीं, कैसे मालूम होगा कि कहीं मैं किसी धोखे में तो नहीं जी रहा, मैं अपने आपको ठग तो नहीं रहा हूं; मुझे यही नहीं पता कि मैं संघर्ष क्यों कर रहा हूं, क्यों मुझे कुछ आदतें पड़ी हुई हैं, वगैरह। - स्वयं को जाने बगैर स्पष्टता के साथ देखना मेरे लिए असंभव है। इसलिए, मुझे अपने आपको जानना होगा; यानी मुझे अपने मन को समझना होगा। बिना किसी निंदा या समर्थन के हर प्रतिक्रिया के प्रति, हर विचार के प्रति, मुझे जागरूक रहना होगा। मुझे जांच-पड़ताल की मनोदशा में रहना होगा, अर्थात् “यह अच्छा है, वह बुरा है, इसे मुझे संभाल कर रखना होगा, उसे त्याग देना होगा” ऐसा कहने वाले पिछले अनुभव की पृष्ठभूमि के बिना, किसी भी पूर्वाग्रह के बिना हर विचार को, हर भावना को, देखना होगा।

यह सब तो बिलकुल साफ है; है न ? अगर मैं अपने बेटे को समझना चाहूं, तो वह जैसा भी है उसी रूप में मुझे उसका अहसास करना होगा, बिना किसी निंदा या समर्थन के। मुझे उसका अध्ययन करना होगा; जब वह खेल रहा हो या रो रहा हो या ज़रूरत से ज्यादा खा रहा हो, यानी हर हाल में उसका मुझे अवलोकन करना होगा। ठीक उसी तरह, यदि मुझे अपने आपको समझना है, तो रिश्तों के आईने में, बिना किसी मूल्यांकन के, मुझे अपना ध्यानपूर्वक अवलोकन करना होगा; मैं आपसे क्या कहता हूं, और कैसे आप मेरे साथ प्रतिक्रिया करते हैं इसके प्रति मुझे सजग रहना होगा; अपने नौकर, अपनी पत्नी या अपने पति से मैं किस तरह बात करता हूं, किसी बस कंडक्टर के साथ या किसी कुली के साथ मैं कैसा बर्ताव करता हूं, इन सब बातों का मुझे निरीक्षण करना होगा; मैं क्या महसूस करता हूं, क्या सोचता हूं, क्यों सोचता हूं, यह सब मुझे जानना होगा। अपने चिंतन तथा भावनाओं की समग्र प्रक्रिया का अवलोकन करना होगा। इसके लिए अनुशासन की तो कतई ज़रूरत नहीं है। जब अवलोकन के लिए आप स्वयं को अनुशासित करते हैं तब वह अनुशासन ही आपके अवलोकन में रुकावट बनता है, क्योंकि अनुशासन तब आपकी आदत बन जाता है। जहां कहीं भी खोज करने में सच्ची दिलचस्पी होती है, वहां निरंतर अवलोकन होता है, वहां अनुशासन का अभ्यास ज़रूरी नहीं होता।

तो, सबसे पहले इस बात का एहसास होना ज़रूरी है कि अपने आपको समझना हर तरह से निहायत ज़रूरी है, नहीं तो आपके चिंतन का कोई आधार ही नहीं बचता। आप महापंडित हुआ करें, चाहे जितने बड़े पद पर विराजमान हों, लेकिन

जब तक आप स्वयं को नहीं जान लेते तब तक वह सब निरर्थक होगा, क्योंकि आप अंधेरे में चल रहे होंगे।

अपने आपको समझने के लिए, निंदा या समर्थन से पूर्णतः मुक्त सजगता की, सावधानता की, अवलोकन की ऐसी अवस्था जरूरी है जिसमें निंदा या समर्थन का एक रेशा भी न हो; और कुछ भी मूल्यांकन किए बिना अवलोकन की ऐसी अवस्था में रहना असाधारण रूप से कठिन है, क्योंकि परंपरा का सारा बोझ आपके खिलाफ है; आपके मन को सदियों से मूल्यांकन करने के लिए, निंदा करने के लिए, समर्थन करने के लिए, स्वीकार या इन्कार करने के लिए प्रशिक्षित किया गया है। ऐसा मत कहिए कि “इस संस्कार से मैं छुटकारा कैसे पाऊंगा?” पर इस सच्चाई को देखिए कि अगर अपने आप को समझना चाहते हैं - जो कि निश्चित ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है - तो बिना किसी निंदा या तुलना के, आपको अपने मनोव्यापार का अवलोकन करना होगा।

अब देखिए, आप तुलना क्यों करते हैं, निंदा क्यों करते हैं? क्या निंदा करना एक बहुत ही आसान बात नहीं है? आप अगर पूंजीवादी हैं तो आप साम्यवादी की निंदा करेंगे, और उसी तरह साम्यवादी पूंजीवादी की निंदा करेगा। अगर आप निष्ठावान ईसाई हैं तो जाहिर है कि आप हिंदू धर्म या इस्लाम धर्म की निंदा करेंगे, क्योंकि निंदा करना बहुत ही आसान मामला है - निंदा करना और चल देना। वास्तव में निंदा प्रतिक्रिया ही तो है, और वह आलसी मन के लक्षणों में से एक है।

तुलना का मामला भी ठीक ऐसा ही है; है न? क्या तुलना करने वाला मन कभी समझ सकता है? सर, मुझसे सहमत या असहमत मत होइए, बल्कि अपने भीतर गौर से देखिए। जब आप अपने छोटे बेटे की तुलना उसके बड़े भाई से करते हैं तो क्या आप उस छोटे वाले लड़के को समझ पाते हैं? और इस तरह कक्षा में, तथाकथित शिक्षा के अंतर्गत किसी संवेदनशील बच्चे को क्या हम बरबाद नहीं करते, जब उसकी तुलना उससे बड़े या उससे अधिक बुद्धिमान बच्चे से करते हैं? बेशक, तुलना भी एक मंद, विचारहीन, महाआलसी मन की निशानी है; और ऐसे मन को बोध कतई नहीं हो सकता।

अगला सवाल है : सोचना होता क्या है? बेशक, जिसे हम चिंतन कहते हैं, वह स्मृति की, संस्कार की प्रतिक्रिया है। अगर मैं आपसे कोई परिचित प्रश्न पूछूं, तो आपकी प्रतिक्रिया तुरंत होती है, क्योंकि स्मृति का यंत्र-विन्यास तत्काल काम करने लगता है। प्रश्न और उत्तर के बीच कोई अंतर नहीं होता। यदि मैं आपसे बहुत अधिक पेचीदा सवाल करूं, तो सवाल और जवाब के बाच अंतराल आ जाएगा, कुछ समयावकाश होगा, और इस अवकाश में मन अपने स्मृति-भंडार में से अतीत में सीखी हुई सारी बातें उत्तर पाने के इरादे से टटोलेगा। और इस स्मृति की प्रतिक्रिया को ही तो हम सोचना कहते हैं।

अब देखिए, स्मृति हमेशा संस्कारबद्ध हुआ करती है, ठीक है न? आप एक हिंदू, एक मुस्लिम, एक कम्युनिस्ट, एक कैपिटलिस्ट के तौर पर या अन्य किसी रूप में संस्कारबद्ध हैं, और जब मैं आपसे कोई प्रश्न पूछता हूं तो आप अपने संस्कारों के अनुसार उत्तर देते हैं। यदि आप एक निष्ठावान हिंदू हैं, और मैं पूछता हूं कि “क्या आप भगवान पर विश्वास करते हैं”, तो आप कहेंगे कि “हां”, क्योंकि सदियों से आपको विश्वास करने के लिए शिक्षित किया गया है, संस्कारित किया गया है। और

इस तरह का प्रश्न यदि उस व्यक्ति से किया जाए जो भगवान पर विश्वास न करने के लिए प्रतिबद्ध हो तो वह कहेगा कि “आप क्या बकवास कर रहे हैं?” इसलिए सर्वाधिक सतही चिंतन से लेकर सर्वाधिक जटिल चिंतन तक - हमारा सारा सोचना अपने संस्कारों के अनुसार स्मृति की प्रतिक्रिया है।

“मैं अपने भीतर जो भी हूँ उसका पता लगाऊंगा” ऐसा कहने वाला मन पहले ही संस्कारबद्ध है; वह हिंदू, बौद्ध, ईसाई या अन्य किसी रूप में संस्कारबद्ध है। इस संस्कारबद्धता को केवल समझने से ही उसे तोड़ा जा सकता है। और यह बात तो बिलकुल साफ है कि इसका तोड़ा जाना जरूरी है। हिंदू होना, या ईसाई होना, कम्युनिस्ट होना, या सोशलिस्ट होना, बिलकुल बेतुकी बात है। हम मनुष्य हैं, और जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिए हमें इंसान के तौर पर ही उनका सामना करना होगा, परस्पर-विरोधी गुटों के सदस्यों के रूप में नहीं। किसी भी पद्धति, किसी भी विश्वास अथवा विचार-प्रणाली से हमारी मनुष्यव्यापी समस्याओं का समाधान नहीं हो सकेगा। भुखमरी एक मनुष्यव्यापी समस्या है, और हम सबको मिलजुलकर उसका मुकाबला करना होगा, पूंजीवादियों और साम्यवादियों के रूप में विभाजित होकर नहीं। जीवन की बुनियादी समस्याएं सुलझाने के लिए पद्धतियां बिल्कुल काम नहीं आतीं। वे तो हमारे मनों को, जो पहले ही से परंपरा द्वारा, परिवेशगत प्रभावों तथा इसी तरह की अन्य चीजों से अनुकूलित किए जा चुके हैं, और अधिक संस्कारग्रस्त करती चली जाती हैं।

अब सवाल है, संस्कारों में जकड़ा एक मन अपनी संस्कारग्रस्तता का निराकरण कैसे करे? क्या आप प्रश्न को समझ रहे हैं? मान लीजिए कि आप एक हिंदू के रूप में संस्कारबद्ध हैं, और अपनी संस्कारबद्धता का आपको जरा भी अहसास नहीं, क्योंकि जिस समाज में आप रहते हैं उसमें प्रायः हर व्यक्ति हिंदू है; इस बात को आपने स्वीकार कर लिया है और इसके बारे में आप कभी शंका नहीं उठाते। पर इस समय कोई आपको बता रहा है कि आपका मन संस्कारग्रस्त है, और आप इस सच्चाई को देखने लगे हैं; इसलिए आप कहने लगते हैं, “इस संस्कारबद्धता से मैं कैसे छुटकारा पाऊं?”

सर, किसी संस्कार-विशेष से मुक्त हो जाना अभी भी एक संस्कारबद्ध अवस्था ही है। इस पर गौर करें। किसी चीज से छुटकारा पाना एक प्रतिक्रिया है, और इसलिए वह मुक्ति कतई नहीं हो सकती। अपना अभिप्राय मैं और खोल कर बताता हूँ। केवल राष्ट्रवाद से अपने आपको मुक्त कर लेना एक प्रतिक्रिया होगी, क्योंकि मैं कुछ और होना चाहता हूँ। मेरा संस्कार मुझे पीड़ा देता है, दुख देता है, और मैं कहता हूँ कि अगर मुझे खुश रहना है तो मुझे इससे छुटकारा पाना होगा; यानी कुछ अलग बनने के लिए मैं उससे मुक्त होना चाहता हूँ। दूसरे शब्दों में कहें तो, मुक्ति मैं इसलिए चाहता हूँ कि मुझे कोई अधिक तृप्तिदायी अवस्था प्राप्त हो जाए। यह साफ-साफ एक प्रतिक्रिया ही है, और इसलिए वह मुक्ति नहीं है। मुक्ति प्रतिक्रिया से नहीं पैदा होती; मुक्ति मन की ऐसी अवस्था है जिसमें कुछ होने की या न होने की इच्छा का अभाव है।

यदि आपने इस बात की सच्चाई को देख लिया हो तो अगला सवाल है: “संस्कारबद्धता से मुक्त होने का अभिप्राय क्या है? वह ‘किसी चीज से’ मुक्त होना

हरगिज नहीं है और न ही 'कुछ होने' की स्वतंत्रता; बल्कि इसका अभिप्राय है तथ्य को उसके वास्तविक रूप में देखना। मान लीजिए कि मैं एक हिंदू के रूप में संस्कारबद्ध हूँ। मैं अपने संस्कारों की पकड़ से मुक्त नहीं होना चाहता; मैं उन्हें देखना चाहता हूँ। और जैसे ही मैं उन्हें उनके असली रूप में देख लेता हूँ, मैं मुक्त हो जाता हूँ - वह मुक्ति प्रतिक्रिया नहीं होती। पता नहीं मैं इस मुद्दे को स्पष्ट कर पा रहा हूँ या नहीं। मैं मिसालें देना नहीं चाहता, क्योंकि मिसालों का दूसरी मिसालों से खंडन किया जा सकता है। लेकिन महत्त्व निषेधात्मक चिंतन का है, क्योंकि निषेधात्मक चिंतन ही प्रत्यक्ष चिंतन होता है।

देखिए, चिंतन दो प्रकार का होता है - सकारात्मक और निषेधात्मक। क्या किया जाए यह तय करना सकारात्मक चिंतन है - किसी पद्धति के, किसी प्रणाली के, किसी अनुशासन के अभ्यास द्वारा अपने संस्कारों के बंधन को तोड़ना। संस्कारबद्धता से मुक्त होने के लिए किसी विधि या अनुशासन का अभ्यास करना केवल एक दूसरी संस्कारबद्धता लाना है, एक नयी आदत डालना है। यह हुआ सकारात्मक चिंतन। जबकि अपनी संस्कारबद्धता के तथ्य का अवलोकन करना, और इस सच्चाई को देखना कि किसी भी पद्धति या अनुशासन से संस्कारबद्धता से छुटकारा नहीं पाया जा सकता, यह निषेधात्मक चिंतन है।

सर, आपमें से कई लोग अहिंसा का अभ्यास करते हैं, आप अहिंसा के आदर्श की उपासना करते हैं, आप निरंतर अहिंसा का उपदेश देते हैं। यह सकारात्मक दृष्टिकोण है, और आप इसे अच्छी तरह से जानते हैं। पर सच्चाई यह है कि आप हिंसक हैं; और केवल इस तथ्य का बोध ही निषेधात्मक दृष्टि है। इस बात का बोध कि आप हिंसक हैं। इसमें आपको कुछ करना नहीं है। जैसे ही आप हिंसा के बारे में कुछ करने लगते हैं, अहिंसा का मनगढ़ंत आदर्श आपने पेश कर दिया होता है।

पता नहीं आप इस बात को समझ रहे हैं या नहीं। मान लीजिए कि मैं लालची हूँ। अब यह एक तथ्य है, और इसे मैं जानता हूँ। मैं अपने लोभ को अलोभ में नहीं बदलना चाहता; वैसी चाह का मेरे लिए कोई मतलब नहीं, क्योंकि मैं देख पा रहा हूँ कि निर्लोभी बनने में भी लक्षण लोभ के ही हैं। किसी भी प्रकार से कुछ बनना लोभ का ही एक रूप है। मन को अपने लोभी होने की सच्चाई का अहसास होने लगता है, और उसे यह भी बोध होने लगता है कि लोभ को बदलने के लिए उठाया गया कोई भी कदम लोभ के ही दायरे में आता है। 'जो है' का बोध ही उसका निराकरण है।

अतः, स्वयं के अन्वेषण का आरंभ निषेधात्मक दृष्टिकोण से ही होना चाहिए, क्योंकि स्व क्या है इसकी आप को जानकारी नहीं है। आप समझेंगे कि एक लोभी मनुष्य के रूप में या दूसरे किसी रूप में आप अपने को जानते हैं; पर यह स्व निरंतर प्रभावित होता रहता है, बदलता रहता है, और इसे समझना ही तो आपको इस तक सकारात्मक ढंग से नहीं बल्कि निषेधात्मक ढंग से, अप्रत्यक्ष ढंग से पहुंचना होगा।

अधिकांश मन संस्कारित होते हैं, और किसी निश्चय या संकल्प से, अनुशासन के किसी भी अभ्यास से उस संस्कारबद्धता को तोड़ा नहीं जा सकता। जब अपनी संस्कारग्रस्तता के प्रश्न को हम निषेधात्मक दृष्टि से लेंगे, तभी उस संस्कारबद्धता को तोड़ना संभव होगा। 'जो है' उसका बोध मात्र अपने आपमें पर्याप्त है। इसे करके

देखिए, और आपको पता चल जाएगा कि ऐसा क्यों है। जब निषेधात्मक दृष्टि को आप समझ लेते हैं, यानी जब आप निर्लोभी बनने की निरर्थकता के तथ्य को, उसकी निरूपयोगिता और उसमें निहित धोखाधड़ी को देख लेते हैं, तब आपका लोभग्रस्त मन निर्लोभी बनने की ऊहापोह में नहीं फंसता। इसलिए जो भी है, उसे देखने के लिए अर्थात् लोभ को देखने के लिए वह स्वतंत्र होता है; और चूंकि मन लोभ को अबाधित होकर देख पाता है, इसलिए उसका समापन करने में समर्थ होता है। यह करके देखिए, अगली बार जब भी आप गुस्से में या आक्रामकभाव में हों, इसकी निंदा मत कीजिए; इसे सही या गलत मत कहिए; बस इसे देखिए। किसी मनोभाव की तरफ, बिना इसे कोई नाम दिए, बिना निंदा या समर्थन के, केवल देखना एक असाधारण बात है। 'क्रोध' शब्द ही निंदाव्यंजक है, और जब आप बिना नाम दिए उस अनुभूति की ओर देखेंगे, तब 'क्रोध' शब्द के माध्यम से उस मनोभाव के साथ चलने वाला शाब्दिक साहचर्य समाप्त हो जाता है।

इसके साथ-साथ चलिए, सर; जो कहा जा रहा है उसको न स्वीकार कीजिए न अस्वीकार, बस उसमें उतर पड़िए, चाहे आप उसे समझ पा रहे हों या न समझ पा रहे हों।

स्व की समूची प्रक्रिया को समझने के लिए निषेधात्मक रुख आवश्यक है; क्योंकि चेतन मन सचेतन रूप से गहरे अचेतन में नहीं उतर सकता। बाहरी तौर पर, चेतन स्तर पर, आप बहुत बड़े तकनीशियन हो सकते हैं, पर आपके अंदर, अचेतन के गहरे स्तरों पर, जातीय, सहजप्रवृत्त, पारंपरिक प्रतिक्रियाओं का दबाव आप पर हावी रहेगा; वहां पर आपकी सारी महत्वाकांक्षाएं, आपकी विफलताएं आपके छिपे प्रयोजन और भय बहुत प्रबल होंगे; और यह सब आपको समझना होगा। इसे समझने के लिए आपको नकारने वाला नजरिया अपनाना होगा। सकारात्मक दृष्टिकोण हमेशा ज्ञात के क्षेत्र में रहता है। लेकिन निषेधात्मक पहुंच मन को ज्ञात से मुक्त कर देती है, और मन समस्या को ताजगी के साथ, नये सिरे से, निर्दोषता की अवस्था में देख पाता है।

तब आपको पता चलेगा कि स्व केवल खोज करने वाला ही नहीं बल्कि खोज की प्रक्रिया तथा उद्देश्य भी है। खोज करने वाला मन की शांति ढूंढने में लगा है, और अपने लक्ष्य को पाने के लिए वह किसी विधि का अभ्यास करता है। खोज करने वाला, उसकी खोज, तथा उस खोज का लक्ष्य, अभिन्न रूप से एक ही हैं। जब खोज करने वाला अपने वांछित लक्ष्य यानी मन की शांति को ढूंढता है, तो वह अभी भी ज्ञात के दायरे में ही होता है। उसकी खोज जीवन के द्वंद्वों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया होती है, इसलिए जिस शांति की निरंतर खोज में वह लगा हुआ है, वह ज्ञात का ही एक प्रक्षेपण है। जबकि, मन यदि उस खोज के मिथ्या रूप को देखकर शांति के पीछे भागना छोड़ दे और अपने द्वंद्वों को समझने में जुट जाए, अर्थात् उनका सामना निषेधात्मक ढंग से करने लगे, तो यही अपने आप को जानने की शुरुआत होगी।

अपने आपको समझने की प्रक्रिया एक अनवरत, समयरहित प्रक्रिया है। अपने आप को जानने का कोई अंत नहीं। जिस क्षण आप इस सच्चाई को देख लेते हैं कि स्वयं को समझने की कोई सीमा नहीं, उसी क्षण आपका मन ज्ञात से मुक्त हो जाता है, और इस कारण अज्ञात का मर्म समझने के योग्य हो जाता है। ज्ञान के खूंटे से बंधा हुआ मन अज्ञात में झांक नहीं सकता। आपके सारे देवी-देवता, आपकी बाइबलें,

आपकी गीताएं, आपकी मार्क्सवादी किताबें आपको बहुत दूर तक नहीं ले जाएंगी। दूर जाना हो, तो आप को बिल्कुल पास से शुरूआत करनी होगी; अर्थात् यह समझना होगा कि ज्ञात के दायरे में सिमटा हुआ मन, ज्ञात से बंधा हुआ मन, अज्ञात में अग्रसर नहीं हो सकता।

अज्ञात है ज्ञात का संपूर्ण निषेध; वह ज्ञात की कोई प्रतिक्रिया नहीं है। इसलिए, अन्वेषक और उसकी सारी खोज, इस सारे खेल का अंत होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, सारी तलाश खत्म हो जानी चाहिए। तभी कुछ नये की संभावना होगी। सभी गहरी खोजें इसी अवस्था में हुई हैं, न कि तब मन जब अपने ही प्रक्षेपण का पीछा कर रहा हो। जब ज्ञात के क्षेत्र में मन का घूमना पूरी तरह बंद हो जाता है, जब वह ज्ञात को अज्ञात में प्रक्षेपित नहीं करता, केवल तभी सृजनशील नूतनता की एक अलौकिक अवस्था उदित होती है; और इसका ज्ञात से कुछ सरोकार नहीं होता। वह सत्य है, वह वास्तविकता है, वही परमेश्वर है - या और जो कोई नाम आप उसे देना चाहें। किंतु वह नाम वह वास्तविकता नहीं है।

अतः, हमें करीब से शुरूआत करनी होगी; मन को उसके द्वारा जानी हुई सारी बातों से खाली करना होगा - आंतरिक रूप से, मानसिक रूप से, न कि तथ्यों के स्तर पर या भौतिक स्तर पर। आप रहते कहां हैं इस बात को भूलना ठीक नहीं होगा; वह तो स्मृति-लोप की व्याधि होगी। परंतु एक अनुभवसंपन्न व्यक्ति के रूप में, एक ज्ञानी व्यक्ति के रूप में, जिस व्यक्ति ने पढ़ा ही पढ़ा है, और जो ज्ञात के द्वारा संचालित है ऐसे व्यक्ति के रूप में, आपने जो कुछ जान लिया है उसे मनोवैज्ञानिक अर्थ में, आपको मिटा देना होगा; उस सबको समाप्त होना होगा। जो ज्ञात है उसका हमेशा एक केंद्र होता है, और इसलिए उसकी एक परिधि - एक पहचानने योग्य सीमा-रेखा - भी होती है। जब केंद्र का अवसान होता है, तभी वह सीमा-रेखा भी मिटती है। तब मन असीम हो जाता है - मनुष्य के लिए अपरिमेय।

नयी दिल्ली २५ फरवरी, १९५६

अनुवाद : सुधाकर देशपांडे, शक्ति कुमार